मानव कल्याण में ईशावास्योपनिषद् की उपादेयता

डॉ0 देवेन्द्र कुमार
असि0 प्रो0 एवं अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

सारांशिका

जब व्यक्ति पूर्ण भक्तिभाव से भावित होकर ईश्वर चिन्तन करते हुए अनासक्त भाव से कर्म करता है और समभाव की दृष्टि रखता है तब वह कर्म के बन्धन में नहीं बंधता है। समता भाव ही व्यक्ति को आनन्दानुभव कराता है। समता का तात्पर्य है व्यक्ति किसी भी व्यक्ति, वस्तु, घटना आदि से प्रभावित न हो अर्थात् उसके मन में कोई विकार उत्पन्न न हो। समता को प्राप्त किए हुए व्यक्ति को यदि कोई प्राप्त होती है तो वह बहुत अधिक प्रसन्न नहीं होता है और यदि कोई हृदयविदारक घटना भी घटित हो जाय तो भी वह अत्यधिक दुःखी नहीं होता है। वह दोनों ही परिस्थितियों में सम रहता है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो वह राग–द्वेष से ऊपर उठ जाता है। यही समता का भाव ही व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व का कल्याण करता है।

स्वयं तथा विश्व कल्याण के लिए प्रत्येक व्यक्ति को मन में समता के भाव को जाग्रत करना होगा। यदि व्यक्ति समता के साथ मन को जोड़ता है तो उसकी आध्यात्म साधना निरन्तर बढ़ती जाती है। स्वयं के कल्याण के लिए मोह का त्याग अत्यन्त आवश्यक है।

मुख्य शब्द : मानव, कल्याण, उपादेयता, भक्तिभाव, कर्म, समताभाव।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

उपनिषद् वाङ्मय का चिन्तन मनुष्य मात्र के लिए सदैव अनुकरणीय रहा है। यह वाङ्मय आध्यात्म के रहस्यों से भरा पड़ा है। ऋषियों अथवा अध्यात्म गुरुओं के सानिध्य में बैठकर श्रद्धा के साथ ग्रहण किए जाने वाले रहस्यमयी आध्यात्मिक तत्वों में मनुष्य के जीवन हेतु कल्याणकारी सामग्री उपनिषदों में विद्यमान है। वैदिक ऋषि जो पुण्यात्माओं के रूप में स्वीकार किये जाते हैं, वे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों से परिष्कृत होते थे। उनके चिन्तन में आध्यात्मिकता के साथ–साथ भौतिक अथवा सांसारिक कल्याणकारी सूत्रों का समावेश होता था। वैदिक ऋषियों का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर ने अनन्त शक्तियों का भण्डार प्रदत्त किया है, परन्तु अज्ञान के कारण वे सभी शक्तियाँ मनुष्य के भीतर दबी रहती हैं।

उपनिषद् शब्द 'उप' (समीप), नि (निष्ठा) उपसर्ग पूर्वक सद् (सद्लृविषरणगत्यवसादनेषु) धातु से क्विप् प्रत्यय होकर बनता है। यहाँ सद् धातु के तीन अर्थ हैं– विषरण, गति और अवसादन। विषरण का अर्थ है– नाश। गति का अर्थ है– प्राप्त होना तथा अवसादन का अर्थ है– शिथिल करना। इस प्रकार उपनिषद् का अर्थ हुआ– ऐसा ज्ञान या विद्या जिसके द्वारा अविद्या का नाश, जिससे ब्रह्म की प्राप्ति तथा सांसारिक बन्धनों को शिथिल किया जा सके। उपनिषदों की संख्या के विषय में कहा जाय तो इनकी संख्या 108 से लेकर 200 तक मानी गई है किन्तु जिनमें एकादश उपनिषद् प्रमुख हैं– ईष, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्ड्यूक्, तैत्तिरीय, एतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर उपनिषद्। उक्त उपनिषदों में ईशावास्योपनिषद् लघुकाय एवं एक महत्वपूर्ण उपनिषद् है। जो शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा का चालीसवाँ अध्याय है।

इस उपनिषद् में केवल 18 मंत्र हैं, जिसमें कर्म ज्ञान का समुच्चयवाद का बीज पाया जाता है। लघु होने पर भी इसमें अनेक ऐसे संकेत हैं, जिनसे आश्चर्यजनक सूक्ष्म दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है। यह एक ऐसा पूर्ण उपनिषद् है कि मानो परमार्थिक जीवन का एक परिपूर्ण नक्शा थोड़े में ही खींचा गया हो। वह वेदों का सार एवं गीता का बीज है। इसे प्रथम उपनिषद् के रूप में मान्यता प्राप्त है इसके प्रथम मन्त्र में ''ईशावास्यम्'' पद सर्व प्रथम आने से इसका नाम ''ईशावास्य'' पड़ा। ईशा = ईश्वर के द्वारा, वास्य = व्याप्त है अर्थात् यह सब कुछ ईश्वर के द्वारा व्याप्त है। इस उपनिषद् में ईश्वर के गुणों का वर्णन है, अधर्म त्याग का उपदेश है।

ईश्वर अन्तर्यामी, अचल और एक है वह सर्वत्र और सभी कालों में विद्यमान रहता है, उसकी शक्ति अलौकिक और असीम है। उसकी सत्ता के विषय में तर्क नहीं किया जा सकता। वह सभी शक्तियों का स्वामी है। वह सबकुछ करने वाला है। वह साकार एवं निराकार दोनों ही रूपों में विद्यमान है। वह आनन्दमय और चेतनस्वरूप है जब चेतन का कोई रूप नहीं होता है, कोई आकार नहीं होता है तब उस ईश्वर को निराकार की संज्ञा दी जाती है परन्तु चेतना जब भी शक्ति में परावर्तित होती है, तब उसे कोई न कोई आकार लेना पड़ता है। तब वह एक भक्त के लिए साकार हो जाता है। वास्तव में देखा जाय तो ईश्वर का कोई रूप ही नहीं होता। वह तो सर्वत्र और सभी कालों में व्याप्त रहने वाली चौतन्य शक्ति है। पर जब भी उस शक्ति को कोई अनुभव लेना होता है तब वह एक आकार लेती है और एक भक्त के लिए प्रकट होकर उसे दर्शन का लाभ प्रदान कर अपनी कृपा का पात्र बनाती हैं। उस ईष्वर को ज्ञान, कर्म और भक्ति के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जो श्रद्धा एवं प्रेमयुक्त भक्त के लिए सदैव ''वह परमेश्वर सगुण होकर प्रकट होते हैं अर्थात् उसके लिए चलते हैं और इसके विपरीत अश्रद्धावान जनों के लिए वह स्थिर हैं तथा प्रेमी जनों के कष्ट को दूर करने के लिए उनके समीप रहते हैं और अज्ञानी लोगों से दूर रहते हैं। ऐसे वह परमेश्वर इस संसार के भीतर एवं बाहर भी है।''1

जब तक मोह रहेगा तब तक समता का भाव रहना बहुत ही मुश्किल है अर्थात् मोह से समता का नाश होता है। अतः समता के रक्षण और पोषण के लिए स्त्री, पुत्र, धन, और शरीर के प्रति मोह का त्याग करना आवश्यक है। व्यक्ति का मन ही उसके उत्थान और पतन का कारण होता है। निरंकुश मन से पतन व अंकुश मन से उत्थान होता है। इसलिए मन को वश में करने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करना चाहिए। मन के नियंत्रित होने से सभी इन्द्रियाँ भी व्यक्ति के वश में हो जाती है और व्यक्ति के भाव समता से युक्त हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति किसी से मोह, प्रेम या घृणा नहीं करता। काम, क्रोधादि ही संसार में लड़ाई–झगड़े, भ्रष्टाचार, आतंकवाद आदि जैसी समस्याओं को जन्म देते हैं। इन काम क्रोधादि दोषों को समभाव के द्वारा दूर कर व्यक्ति सर्वविधि कल्याण को प्राप्त करता है। संसार के पदार्थो के प्रति आसक्ति व्यक्ति में काम, क्रोधादि दोषों को उत्पन्न करती है। अतः अनासक्त और समभाव वाला व्यक्ति लोभ, मोहादि से रहित होकर निरन्तर जीवन पथ पर आगे बढ़ता रहता है। कहा भी गया है–

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।2

अर्थात् जो मनुष्य समस्त प्राणियों में परमात्मा को ही देखता है और सभी प्राणियों को परमात्मा में देखता है, उसके पश्चात् वह कभी भी किसी से घृणा नहीं करता है। अपितु वह सभी मन ही मन प्रणाम करता हुआ समस्त प्राणियों की सेवा करना और सुख पहुंचाना चाहता है इसी को ही भक्ति कहा जाता है। ऐसी भक्ति से निज–पर भेद मिट जाता है। इससे राष्ट्र, समाज और कुटुम्ब में होने वाले लड़ाई–झगड़े की दीवारें खत्म हो जाती है तथा सर्वत्र शान्तिमय वातावरण उत्पन्न होता है। ऐसे भक्तिमय पुरुष का जीवन आनन्दमय व्यतीत होता है।

ईश्वर ने मनुष्य को बनाया और उसे बुद्धि रूपी एक बड़ा हथियार भी दिया। इससे मनुष्य अपनी उन्नति भी कर सकता है और अवनति भी। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह उन्नति करे। दुनिया में जितना ज्ञान है उस ज्ञान में क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक। इस ज्ञान का विवेक मनुष्य को करना चाहिए क्योंकि ऐसा न करने वाले मनुष्य को दुःख के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं प्राप्त होने वाला है। यदि व्यक्ति के अविद्या अर्थात् अनित्य, अपवित्र, दुःखात्मक तथा अनात्म पदार्थों में नित्य, पवित्र, सुखात्मक एवं आत्मभाव में रत रहता है तो वह सदैव दुःख के परिणाम को प्राप्त करता है। अविद्या की उपासना करने वाला व्यक्ति अनित्य अर्थात् नष्वर पदार्थो को नित्य मानता है। इस संसार का प्रत्येक पदार्थ अथवा प्रत्येक जीव नाशवान है फिर भी वह नित्य मानकर उसके मोह के वशीभूत होकर दुःखमय जीवन व्यतीत करता है। सांसारिक विषय भोग जो केवल दुःखात्मक है, उनके प्रति निज बुद्धि को सुखात्मक रखते हुए अधिकाधिक उन्हें प्राप्त करने की इच्छा रखता है। दुखात्मक पदार्थों के लिए बड़े–बड़े कर्मानुष्ठान करता है। ऐसा केवल अविद्या की उपासना करने वाला व्यक्ति अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण दुःख को प्राप्त करते हैं।

इसके विपरीत व्यक्ति केवल विद्या अर्थात् देव उपासना विषय, मिथ्या ज्ञान, अहंकार से युक्त व्यक्ति को जो दुख अविद्या से प्राप्त होता है उससे भी अधिक घोर अन्धकार कूकर, शूकर आदि योनियों को प्राप्त करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अविद्या से युक्त व्यक्ति तो केवल कर्मानुष्ठान करता है जबकि विद्या से युक्त व्यक्ति तो स्वयं को ईष्वर का अवतार, दिव्य शक्तियों से सम्पन्न बताकर मिथ्या अभिमान करता है। ऐसे केवल विद्यारत मनुष्य कहते हैं कि मैंने विद्या को जान लिया है, परमात्मा को प्राप्त कर लिया है किन्तु व्यवहार में वे सांसारिक भोग, एवं वासनाओं में लिप्त रहते हैं। वे विद्या का मिथ्या स्वयं पर आरोप करके अहंकारी हो जाते है और संसार के अबोध मनुष्यों से स्वयं को ईष्वर का अवतार कहकर स्वयं की पूजा करवाते हैं। ऐसे दम्भी, पाखण्डी मनुष्यों के लिए ईशावस्योपनिषद् में कहा गया है कि वे अविद्याग्रस्त लोगों की अपेक्षा अधिक घोर नरकों में कष्ट पाते हैं। **जो प्राणी अविद्या (कर्मानुष्ठान) की उपासना करते हैं, वे अज्ञान स्वरूप प्रगाढ़ अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं और जो मनुष्य विद्या (केवल मिथ्या ज्ञान) में रत है। वे मानो उससे भी अधिकतर अन्धकार में प्रवेश करते हैं।**''3 कहने का भाव यह है कि जो मनुष्य भोगासक्त होकर उनकी प्राप्ति साधन रूप अविद्या का विविध प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करते हैं तो इस दुःख संसार के प्रवाह में पड़े हुए विविध तापों से सन्तप्त होते रहते हैं तथा जो दूसरे ऐसे मिथ्याभिमानी ज्ञानी पुरुष अपने को ज्ञानी मानकर ''हमारे लिए कोई कर्तव्य नहीं है ऐसा कहकर कर्मों का त्याग करते हैं वे मनुष्य भी अधिकतर अन्धकार को पशु–पक्षी, शूकर–कूकर आदि योनियों को प्राप्त करते हैं।

मनुष्य समष्टि की एक ईकाई है। वह जो भी कर्म करता है, उससे समष्टि में स्पन्दन होता है और उसकी संवेदना परम चेतना तक पहुँच जाती है। यदि कोई मनुष्य यह विचार करता है कि मेरे जो बुरे या अच्छे कर्म कोई नहीं देख रहा है तो ऐसा नहीं है वह नहीं जानता कि उसके द्वारा किये गये कर्म परम चेतना तक पहुँचते रहते है। बुरे कर्म करने वाला मनुष्य आत्महन्ता हो जाता है। परिणाम् दुःखदायी होता है तो अच्छी गति भला कैसे हो सकती है? यह श्रेष्ठ जीवन का मार्ग नहीं है, यह विष्व कल्याण का मार्ग नहीं हो सकता। पुण्य कर्मों के फलस्वरूप ही अच्छी गति होगी। स्वर्गादि शुभ लोकों की प्राप्ति होगी। केवल अविद्या अथवा केवल विद्या से सांसारिक सुखों की प्राप्ति हो सकती है किन्तु जन्म–मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाना असम्भव है। अतः मोक्ष अर्थात् जन्म–मृत्यु के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए यदि मनुष्य विद्या और अविद्या को साथ–साथ भली–भाँति समझ लेता है तो वह आत्म तत्व के सहारे अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृत तत्व को प्राप्त कर लेता है।

दूसरे शब्दों में इसे इस तरह भी समझा जा सकता है कि एक नदी है और नदी के दूसरे किनारे पर मीठे फल का वृक्ष है अतः नदी को पार करके उस वृक्ष के फल का स्वाद लेना है तो अविद्या के सहारे व्यर्थ के ज्ञान से बचते हुए नदी पार के समान मृत्यु को तर जाना है और फिर विद्या के सहारे आत्म चिन्तन कर नदी के दूसरे किनारे वृक्ष पर लगे मीठे फलो का आस्वादन करना है। इसलिए मनुष्य को अविद्या और विद्या इन दोनों के तत्व को भली भांति समझना चाहिए क्योंकि मनुष्य को विद्या भी

चाहिए और अविद्या भी। ऐसे पुरुष के विषय में कहा है–

विद्यां चाविद्यां च यद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।।4

अर्थात् जो मनुष्य इन दोनों के तत्व को एक ही साथ भली–भाँति समझ लेता है। वह अपने वर्णाश्रम और परिस्थिति के अनुरूप शास्त्रविहित कर्मों का त्याग नहीं करता बल्कि उनमें कर्तापन के अभिमान से तथा राग द्वेष और फल कामना से रहित होकर उनका यथायोग्य

आचरण करता है इससे उसकी जीवनयात्रा भी सुखपूर्वक चलती है। इस भाव से कर्मानुष्ठान के फलस्वरूप उसका अन्तःकरण समस्त दुर्गुणों और विकारों से रहित होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है और भगवत कृपा से वह मृत्युमय संसार से तर जाता है। इस कर्म साधन के साथ निरन्तर विचार रूप ज्ञानाभ्यास करते रहने से परमेष्वर के यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर वह शीघ्र ही परमब्रह्म परमेष्वर का साक्षात्कार कर लेता है।

इस उपनिषद् की प्रासंगिकता इसलिए भी है कि आज समाज में दुर्भाग्यवश कुछ सन्त पुरुष जिन पर लाखों लोगों की भावनाएं, आस्थाएं जुड़ी हैं, वे स्वयं को उस परमब्रह्म परमेष्र का सच्चा भक्त घोषित करने में संकोच नहीं करते और समाज को धोखा दे सकते है किन्तु उस सत्ता को धोखा नहीं दे सकते। भक्त भगवान के मिलन की प्रार्थना का वर्णन करते हुए कहा है–

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।5

अर्थात् हे भगवान! आप अखिल ब्रह्माण्ड के पोषक है सत्य का मुख स्वर्णिम चमकीले पात्र से आवृत्त है आप इस आवरण को हटा दीजिए और सत्य की ओर उन्मुख मुझे दिव्य दृष्टि दीजिए, जिससे मैं उसके दिव्य दर्शन कर सकूँ। दिन–रात उसकी शक्ति की महिमा गायी जाती है। उसके सामने तो एक तुच्छजीव हूँ उसमें और मुझमें तत्व भेद नहीं क्योंकि ''सोऽहमस्मि''6 अर्थात् वह मैं हूँ, उसी का अंश हूँ मुझ पर यह देह एक आवरण है यह एक सुवर्ण पात्र है। इसके भीतर मैं छिपा हूँ। इस देह को अगर हम भेद सकते हैं तो उस 'मैं' का दर्शन होता है। ईश्वर जिस प्रकार पूर्ण है, सुन्दर है, मैं भी हूँ, हो सकता हूँ।

मनुष्य जीवनपर्यन्त अपने जीवन में सुख चाहता है और सुख प्राप्ति हेतु ऋजुता, सरलता और सद्धर्मिता का होना आवश्यक है क्योंकि जहाँ ऋजुता, सरलता और धर्म है वहाँ ही जीवन है इसके विपरीत जहाँ वक्रता है वहाँ क्लेश, दुःख, झगड़े आदि होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति सुख, शान्ति के साथ प्रभु से प्रार्थना करता है कि मृत्यु के बाद उसे सद्गति प्राप्त हो। जब व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोहादि को त्याग कर समता का भाव लिए विद्या और अविद्या को भली–भांति समझकर सन्मार्ग पर अग्रसर होता है और प्रभु कृपा होती है, तब उसे सद्गति प्राप्त होती है। नष्वर शरीर में रहने वाला जीवात्मा जब बार–बार करूणा के साथ प्रभु का स्मरण करता है तब वह करूणा सागर प्रभु सद्गति प्रदान करते हैं। अपनी वह करूण पुकार अग्निदेव के समक्ष प्रकट

करता है। मृत्युकाल में उत्तम गति चाहने वाला जीवात्मा को उस परमधनरूपी परमेष्वर के पास पहुँचाने के लिए अग्निदेव के अतिरिक्त कोई दूसरा माध्यम नहीं है अग्निदेव ही हमारे व्यक्त जगत् से अव्यक्त जगत् की कड़ी हैं। परमात्मा तक पहुंचने का माध्यम है। जीवात्मा दक्षिणायन मार्ग से नहीं जाना चाहता क्योंकि वह मार्ग क्लिष्ट और अधोगति देने वाला है। उत्तरायण मार्ग सुन्दर कल्याणकारी मार्ग है। जो सुगति प्रदान करता है। अतः व्यक्ति को अन्तिम अवस्था में भी ईष्वर से ऋजुता की प्रार्थना करनी चाहिए। उस अग्निस्वरूप चौतन्यदायी भगवान से पूर्ण समर्पण का भाव लिए करुणा से परिपूर्ण प्रार्थना करता है–

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विष्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज् जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम।।7

''हे अग्निदेव! अब मैं अपने परम प्रभु की सेवा में जाना चाहता हूँ, आप मुझे शीघ्र ही कल्याणकारी उत्तरायण मार्ग से ले चलिए। हे देव! आप हमारे सम्पूर्ण कर्मों को भली–भाँति जानते हैं। हमारे मार्ग के प्रतिबन्धक यदि कोई पाप कर्म हैं तो उसे आप कृपा कर नष्ट कर दीजिए। मैं आपको पुनः–पुनः सादर प्रणाम कर रहा हूँ। आप हमारे अभीष्ट को अवश्य पूर्ण कर दीजिए। यहाँ सन्मार्ग पर चलते हुए मनसा–वाचा–कर्मणा से अन्दर–बाहर सरल होने की प्रार्थना की गई है क्योंकि वक्रता में केवल और केवल दुःख है।

यह ईशावास्योपनिषद् लघुकाय होने पर व्यक्ति समाज और सम्पूर्ण विष्व कल्याण के मंगलमयी उपदेशों की शिक्षा प्रदान करता है। यह मनुष्य के काम, क्रोधादि दोषों को त्यागकर वास्तव में जीवन जीने की कला को सिखाता है। यह जीवन–मृत्यु के बन्धन को काटकर मोक्ष प्रदान करने वाला है। इसमें सभी कालों में सत्कर्मों को करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। जिससे सम्पूर्ण विष्व का कल्याण होता है। यहाँ सभी प्राणियों में आत्मा को परमात्मा का अंश मानकर अहिंसा की शिक्षा दी गई है जो कि विष्वशान्ति के लिए आवश्यक है। इसके द्वारा अहंकार को त्यागकर, लम्बी आयु, बन्धनमुक्त कर्म अनुशासन और शरीर के नष्वर होने का बोध कराया गया है। यदि व्यक्ति में यह भाव जाग्रत हो जाय कि यहाँ जो कुछ है, परमात्मा का है यहाँ जो कुछ भी है सब ईश्वर का है, हमारा कुछ भी नहीं है तो उसमें अहं, मोह आदि का नाश हो जायेगा। तब उसका सर्वविधि कल्याण होगा। इस प्रकार व्यक्ति का चाहे कर्म क्षेत्र हो या धर्म अथवा सामाजिक क्षेत्र हो, उन सभी में आज भी ईशावास्योपनिषद् के उपदेशों को स्वीकार कर व्यवहार में लाया जाये तो सम्पूर्ण विश्व में शान्ति एवं उन्नति होगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची–

1. तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
   तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।
   (ईशा0उ0/मन्त्र–05)
2. ईशावास्योपनिषद्/मन्त्र–06
3. अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
   ततो भूय इव ते ततो य उ विद्यायाँरताः।।
   (ईशा0उ0/मन्त्र–09)
4. ईशावास्योपनिषद्/मन्त्र–11
5. ईशावास्योपनिषद्/मन्त्र–15
6. ईशावास्योपनिषद्/मन्त्र–16
7. ईशावास्योपनिषद्/मन्त्र–18।